© 2017 IJSRST | Volume 3 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X
Themed Section: Science and Technology

प्राचीन संस्कृत साहित्य में अन्तर्निहित स्त्रियों के विधिक अधिकार

सत्येन्द्र कुमार सिंह

शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

'साहित्य समाज का दर्पण है', यह वाक्य प्राचीनकाल में उतना ही प्रासंगिक था जितना की आज है। जीवन के विभिन्न पहलुओं अर्थात् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा व्यवहारिक अवस्थाओं के प्रतिबिम्ब इस साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान समय में विधि/कानून शब्द का श्रवण होने पर हमारे ज़ेहन में कानून की जो रूपरेखा बनती है या हम यह कहें कि आज समाज में जो विधिक संरचना विद्यमान है वह प्राचीन समाज में न थी। उस काल खण्ड में राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का बाहुल्य था तथा राजा किसी विवाद का निर्णय स्वविवेक, धर्मशास्त्र, स्मृतियों या परम्परा के आधार पर करते थे, साथ ही किसी व्यक्ति या समाज के अधिकार एवं कर्तव्यों का निर्धारण भी इन्हीं आधारों पर होता था। जब हम नारी के अधिकारों का अनुशीलन करते हैं तो इस तथ्य से परिचित होते हैं कि समाज में नारियों के अधिकार अत्यन्त सीमित थे तथा उनमें उतार–चढ़ाव की प्रवृत्ति विद्यमान रही। सर्वप्रथम तो यह तथ्य विचारणीय है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य स्त्रियों के किन अधिकारो की वकालत करते हैं तथा कौन उन्हें वस्तुतः प्राप्त थे और पुरुष और स्त्री के अधिकारों में क्या असमानता थी?

संस्कृत साहित्य में स्त्रियों को चल सम्पत्ति के रूप में दर्शाया गया है। बाल्यकाल में वह पितृ गृह में पिता के कार्यों में सहयोग करती थी, विवाहोपरान्त उसका कर्तव्य पति की सेवा करना तथा उसके दैनिक कार्यों में सहयोग करना होता था। पति (वर) विवाह के समय पिता को सेवा से वंचित करने के बदले में उसे धन देता था। तत्कालीन भारतीय समाज में स्त्रियों के लिए विवाह विच्छेद करना लगभग असंभव था। मनु कहते हैं कि–

न निष्क्रयविसर्गाभ्याम् भर्तुभार्यां विमुच्यते।
एवं धर्म विजानीमः प्राक् प्रजापति निर्मितम्।।
सकृदंशो नियतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृतदाह ददानीति त्रीणयेतानि सतां सकृत।।[1]

अर्थात् अगर पति, पत्नी को बेच दे या छोड़ दे तो भी पत्नि पति से मुक्त नहीं होती है और न ही उस अवस्था में उसे तलाक देने का अधिकार होता है। शिष्ट समाज में कन्यादान केवल एक बार किया जाता है। विवाहोपर्यन्त पति–पत्नी का सम्बन्ध जीवनपर्यन्त के लिए होता है।[2] धर्मशास्त्रकार कुछ विशेष परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं जिनको आधार बनाकर पत्नि विवाह विच्छेद कर सकती थी। मनु स्वयं लिखते हैं कि–

अतिक्रामेत्प्रमतं या मत्तं रोगार्तमेव वा।
सा त्रीन मासान् परित्याजा विभूषणपरिच्छदा।।
उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न व्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दाया पवर्तनम्।।[3]

जो स्त्री जुआरी, मद्यप और रोगातुर पति की सेवा न करे उसके आभूषणादि लेकर तीन महीने के लिए त्याग दे परन्तु जो पागल पतित, नपुंसंक, बीजहीन, पापरोगी भी अपने पति की सेवा करें उसको न त्यागे, न कोई वस्तु छीने। उक्त परिस्थितियों में यदि पत्नि, पति का परित्याग कर दे तो उसमें कोई दोष नहीं है। मनु ऐसी स्त्री को पुर्नविवाह करने का अधिकार देने के पक्षधर हैं जो विवाहोपर्यन्त पति के साथ सहवास न किया हो। साथ ही पति द्वारा परित्यक्त अथवा विधवा स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी–

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भुत्वा स पौनर्भव उच्यते।।
सा चेदक्षयोनिः, स्यादतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्ता सा पुनः संस्कारमर्हति।।[4]

उपर्युक्त रीति से सम्पन्न विवाहोपर्यन्त उत्पन्न पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था शर्त यह होती थी कि विवाह विच्छेद न हुआ हो। समाज में गान्धर्व विवाह की सत्ता विद्यमान थी तथा लोकमान्यता भी प्राप्त थी परन्तु ऐसा करने वाली स्त्रियों के प्रति समाज निरादर प्रकट करता था तथा उन्हें 'स्वैरिणी' कहा जाता था, जिसका तात्पर्य ऐसी स्त्री से है जो सामाजिक ताने–बाने का परवाह किये बिना मनमाना आचरण करने की चेष्टा करती है।[5]

वसिष्ठ धर्मसूत्र में उल्लेख है कि यदि किसी ब्राह्मणी स्त्री का पति परदेश चला गया है तो उसे पाँच वर्ष प्रतिक्षा करने के पश्चात् उसके न आने पर वह दूसरा विवाह कर सकती है–

प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाग्रायुपासीत्।
ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत।[6]

चाणक्य विवाह विच्छेद के सन्दर्भ में स्त्रियों के लिए कुछ अधिक आसान नियम बनाने के पक्षधर जान पड़ते हैं, उनका मंतव्य है कि पति के परदेश जाने पर पत्नी को दश मास प्रतीक्षा करने के पश्चात् न्यायाधीश से आज्ञा लेकर दूसरा विवाह करने का अधिकार है।[7] उनका विचार था कि जब पति–पत्नी एक दूसरे से घृणा करते हों या एक–दूसरे से जीवन का खतरा हो तो पत्नी तथा पति दोनों को विवाह विच्छेद करने का अधिकार होता है।[8] बौद्ध साहित्य के अनुसार समाज के निम्नवर्ग में विवाह विच्छेद की प्रथा विद्यमान थी, इस वर्ग में पति से विरोध होने पर पिता अपने पुत्री का विवाह दूसरे पुरुष से कर देता था।[9]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में पत्नियों से यह आशा की जाती है कि वह प्रत्येक परिस्थिति में पति की सेवा करें। विवाह विच्छेद के सन्दर्भ में उसे पुरुषों की अपेक्षा अत्यल्प अधिकार प्राप्त थे। प्रसंग स्थल पर इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि तत्कालिक समाज में स्त्रियों को पर पुरुष गमन के अधिकार विवाह विच्छेद की अपेक्षा अधिक प्राप्त थे। सामाजिक व्यवस्थाकार स्त्रियों को एक तरफ तो सीमित अधिकारों की वकालत करते तो दूसरी ओर उनके भरण–पोषण की पर्याप्त व्यवस्था करते हैं। आचार्य गौतम एक स्थान पर कहते हैं कि स्त्री का सतीत्व नष्ट हो जाने पर भी पति को उसके भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। 'स्त्री यातिचारिणी गुप्ता पिण्डं तु लभते'।[10] उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समाज में विवाह विच्छेद अत्यन्त दुरूह था।

समाज में विधवाओं की स्थिति अच्छी न थी। मनु के अनुसार–

नास्ती स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।।
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किञ्चिदप्रियम्।।
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एक पत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्।।[11]

अर्थात पत्नी के लिए पति की सेवा का व्रत उसे स्वर्ग प्राप्ति का साधन होता है, पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी को विवाह का विचार त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। विष्णु स्मृति में भी इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते है। नारद स्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि ''कन्या का विवाह केवल एक बार किया जाता है।[12] परन्तु एक अन्य प्रसंग में नारद विधवा को विवाह करने का अधिकार देते हैं।[13] इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि नारद कालीन समाज में कहीं–कहीं पर विधवा विवाह का प्रचलन तो रहा होगा, परन्तु उन्हें समाज में अच्छा नहीं समझा जाता था। वसिष्ठ धर्मसूत्र में एक स्थान पर इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि 'ऐसी कन्या जिसने पति के साथ सहवास नहीं किया हो तो ऐसी विधवा को विवाह करने का अधिकार होता है।[14] आदित्य पुराण में लिखा है कि ''विधवा विवाह कलियुग में वर्णित है।[15] उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यतः समाज में विधवा विवाह की अनुमति नहीं दी गयी थी कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह के अनुमति दी गयी थी परन्तु उसे समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विधवाओं को पति के परिवार में रहते हुये सेविका की भाँति कठिन परिश्रम करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था।

समाज में स्त्रियों को व्यवसाय चुनने का अधिकार तो था परन्तु वह केवल निम्न जाति की स्त्रियों तक सीमित था, उच्च जाति की स्त्रियों को पति से स्वतंत्र होकर व्यवसाय चयन का अधिकार न था। ऋग्वेद में भी पत्नी को पति से भिन्न व्यवसाय करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णुस्मृति के अनुसार निम्न जातियों की स्त्रियाँ पति के व्यवसाय में भाग लेती थी तथा वे पति कार्य से परे अन्य व्यवसाय अपना सकती थी तथा पति की साख को गिरवी रख सकती थी।[16] याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि–

गोपशौण्डिकशैलूरजकव्याधयोषिताम्।
ऋणं पद्यात्पतिस्तेषां यस्मात् वृत्तिस्तदाश्रया।।[17]

अर्थात् गोप, मद्य बनाने वाले, नट धोबी और व्याधि की स्त्रियों के द्वारा लिये गये ऋण को उनका पति दे, क्योंकि उनकी वृत्ति उनकी स्त्रियों के अधीन है।

प्राचीनकाल में पत्नी को चल सम्पत्ति समझा जाता था। अतः उसके स्वयं सम्पत्ति की स्वामिनी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक युग में स्त्रियों को उपहार रूप में दिया जाता था।[18] महाभारत में जब कृष्ण शान्ति का प्रस्ताव लेकर कुरु राज सभा में जाते हैं तो धृतराष्ट्र कृष्ण का आदर सत्कार्य करने के लिए सौ दासियाँ देने को उद्यत हो जाते हैं।[19] तत्कालिक समाज में पत्नी पर पति का पूर्ण रूप से स्वामित्व स्वीकार किया जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र से यह ज्ञात होता है कि पति अपनी पत्नी को दाव पर लगा सकता था। महाभारत में भी इसका उल्लेख है, जहाँ पर युधिष्ठिर ने अपनी पत्नी द्रोपदी को दाँव पर लगाया था। प्रसंग स्थल पर द्रौपदी सभासदों से कुछ प्रश्न पूछती है पर वह अधिकार के सम्बन्ध में न थे। वह केवल इतना कहती है कि क्या दाँव लगाते समय सुधिष्ठिर स्वतंत्र व्यक्ति थे? यद्यपि युधिष्ठिर जब द्रौपदी को दाँव पर लगाते हैं तो

सभासदों ने इसका अनुमोदन नहीं किया था परन्तु वहाँ पर उपस्थित किसी व्यक्ति ने विरोध भी नहीं किया था, विकर्ण ने विरोध किया अवश्य था पर उसका आधार कुल की मर्यादा थी।[20] रामायण में भी सीता परित्याग की घटना यही दर्शाता है कि पति कर्तव्य निर्वाह में अवरोधक होने पर द्रव्य की भाँति पत्नी का परित्याग कर सकता है।

इतना सब होने के बावजूद भारतीय समाज में वैदिक युग से ही पति और पत्नी दोनों को परिवार की सम्पत्ति का संयुक्त रूप से स्वामी समझा जाता था। विवाह के समय पति को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह पत्नी के आर्थिक अधिकारों की अवहेलना नहीं करेगा। आपस्तंब धर्म सूत्र के अनुसार परिवार की सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व से तात्पर्य था कि पति की अनुपस्थिति में पत्नी परिवार के लिए आवश्यक व्यय कर सकती थी।[21] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि पति, पत्नी से विवाह विच्छेद करता है तो उसे पति की सम्पत्ति का एक तिहाई हिस्सा प्राप्त होता है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि पत्नी मधुरभाषणी, सदाचारी तथा वीरप्रसवनी हो।[22] सामान्यतः स्त्रियों के इस अधिकार को मान्यता प्राप्त न थी। वसिष्ठ धर्मशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है कि–

स्वयं विप्रतिपन्ना वा यदि वा विप्रवासिता।
बलत्कारोपभुक्ता वा चोररहस्तगतापि वा।।[23]

अर्थात् यदि किसी स्त्री से कोई व्यक्ति बलात्कार कर लेता है तो भी उसके पति को उसका भरण पोषण करना पड़ता है। इस तथ्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सिद्धान्त पक्ष में भले ही स्त्रियों को चल सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता रहा हो परन्तु व्यवहार में उन्हें परिवार की सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त था। प्रारम्भिक काल में स्मृतिकारों ने स्त्रियों को न्याय प्राप्त करने के अधिकार से वंचित रखा था किन्तु विज्ञानेश्वर कहते हैं कि यदि कोई पति अपनी गुणवती को छोड़ दे या उसकी सम्पत्ति का जानबूझकर दुरुपयोग करे तो पत्नी न्यायालय में जाकर अपने दुःख पूरा करा सकती है।[24] विज्ञानेश्वर एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि पति, पत्नी की अनुमति के बिना पत्नी की सम्पत्ति का उपयोग नहीं कर सकता है। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पति, पत्नी की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग तो कर सकता था परन्तु उसे वापस करने के वादे के साथ।

प्राचीनकाल में स्त्रियों को उनके वस्त्र, आभूषण आदि चल सम्पत्तियों पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त था। सामाजिकव्यवस्थाकार इसे स्त्री धन की संज्ञा देते है। यह धन उसको माता–पिता से विवाह के समय, पति तथा श्वसुरादि से समय–समय पर प्राप्त होता था। याज्ञवल्क्य ने स्त्री धन के लिए कहा है–

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्।।
बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वा धेयकमेव च।।[25]

याज्ञवल्क्य कहते है कि स्त्रीधन पर स्त्री का आधिपत्य तीन बातों पर निर्भर करता है– सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्गम, प्राप्ति के समय उसकी स्थिति तथा वह सम्प्रदाय जिसके अनुसार उस पर स्मृति शासन होता है। सौदायिक स्त्री धन पर स्त्रियों का स्वतंत्र अधिकार होता है क्योंकि वह धन उसके सम्बन्धियों द्वारा दिया जाता था कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हो। कौटिल्य के अनुसार आजीविका और वस्त्र, आभूषण स्त्री धन कहते हैं परन्तु इसके लिए आजीविका अधिक से अधिक दो हजार पण होनी चाहिए।[26] विष्णु ने स्त्री धन की श्रेणी तीन और प्रकार के धनों की गणना की जिसमें पुत्र के द्वारा प्राप्त उपहार, किसी अन्य सम्बन्धी द्वारा प्राप्त धन तथा पति

के द्वारा किसी अन्य स्त्री से विवाह करने के लिए क्षतिपूर्ति रूप में दी गयी सम्पत्ति।[27] जिसकी स्त्री द्वारा अपनी आजीविका के द्वारा अर्जित की गयी सम्पत्ति को स्त्रीधन में नहीं रखा जाता; क्योंकि पति—पत्नली की आय का उपयोग पारिवारिक खर्च चलाने में किया जाता है। कात्यायन तथा वृहस्पति में इस बात को लेकर मत वैभिन्नता है कि कात्यायन स्त्रीधन में अचल सम्पत्ति को शामिल करने के पक्ष में नहीं थे जबकि बृहस्पति स्त्रीधन में शामिल करने के पक्ष में थे।

स्त्रीधन पर स्त्रियों का पूर्ण स्वामित्व होता था किन्तु देवल का विचार है कि यदि पत्नी पतिव्रता नहीं हो तो उस पर से उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। पति—पत्नी के धन का प्रयोग कर सकता है लेकिन बाद में उसे ब्याज सहित लौटाना होता है किन्तु याज्ञलल्क्य के अनुसार—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।[28]

अर्थात् दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में ऋणदाता—राजा या शत्रु या शत्रु द्वारा बन्दी बनाये जाने पर पति यदि स्त्रीधन का व्यय करता है तो उसको लौटाने के लिए बाह्य नहीं होता है। सामान्यतः यह नियम दिखाई पड़ता है कि स्त्रीधन का व्यय करने पर उसको वापस कर दिया जाता था।

वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि स्त्रियों को दाय का कोई भाग प्राप्त नहीं होता था। उसे दायभाग प्राप्त करने का अधिकार नहीं था; उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में केवल उपहार ही प्राप्त होते थे। पुत्री पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी तभी समझी जाती थी जब उसके कुल से सम्बन्धित कोई उत्तराधिकारी न हो। शुक्र के अनुसार यदि पैतृक सम्पत्ति का विभाजन पिता के जीवनकाल में होता है तो पुत्री भी पिता की सम्पत्ति की अधिकारी होती है, परन्तु अनुशीलनोपरान्त यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि पिता के जीवनकाल में भी सम्पत्ति का बंटवारा होने पर भाईयों को बहन के विवाह का खर्च उठाना पड़ता था, जबकि पैतृक सम्पत्ति पर उसका अधिकार विवाहोपरान्त समाप्त हो जाता था।

स्त्रीधन के`विभाजन के प्रसंग में प्रायः सभी व्यवस्थाकार एक मत दिखाई पड़ते हैं, उनका मंतव्य था कि स्त्रीधन पर पुत्र की अपेक्षा पुत्री के अधिकार अधिक थे।

वर्तमान समय की भाँति प्राचीनकाल में भी माता के रूप में स्त्री को कुछ धन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। मनु के अनुसार ''यदि पुत्र बिना सन्तान के मर जाता है तो उसकी सम्पत्ति माता को प्राप्त हो जाती थी।''[29] प्रायः सभी स्मृतिकार इस मत पर सहमत थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समय के साथ स्त्रियों के अधिकारों में उतार—चढ़ाव की प्रवृत्ति विद्यमान थी। सामान्यतः यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है कि स्त्रियों के भरण—पोषण को पुरुषों की नैतिक जिम्मेदारी समझा जाता था तथा पुरुषों की सेवा करना स्त्रियों के कर्तव्य थे, यह पुरुष पिता, भाई,पति, किसी रूप में हो सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समाज में स्त्रियों में कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया जबकि अधिकारों को सीमित रखा गया।

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति, 9/46.47
2. वही, 9/101
3. वही, 9/78–79
4. वही, 9/175–176
5. पांडुरंग वामन काणे–हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र जिल्द–2, भाग–2, पृ0 608
6. वासिष्ठ धर्मसूत्र, 17/75–76
7. अर्थशास्त्र– 3/4
8. वही, 3/3
9. जातककथा, 444
10. गौतम धर्मसूत्र 22/35
11. मनुस्मृति 5/155, 156, 158
12. नारदस्मृति 12, 28
13. वही 12, 97
14. वासिष्ठ धर्मसूत्र 17/66
15. आदित्यपुराण 21, 14
16. विष्णुस्मृति 6, 21
17. याज्ञवल्क्यस्मृति 2, 48
18. ऋग्वेद, 1, 126,3
19 महाभारत, 5, 86, 8
20. वही, 5, 86
21 आपस्तंब धर्मसूत्र 2,6,14,16–20
22. याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्याय
23. वासिष्ठ धर्मसूत्र 28, 2
24. विज्ञानेश्वर टीक 2, 92
25. याज्ञवल्क्य स्मृति 2, 143, 144
26. अर्थशास्त्र, 3,2
27, विष्णुस्मृति, 17, 18
28. याज्ञवल्क्यस्मृति 2, 147
29 मनुस्मृति 9, 217